Shodhshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2020 SHISRRJ | Volume 3 | Issue 2 | ISSN : 2581- 6306

रससिद्धान्त में रससंख्या निर्धारण सम्बन्धित मान्यताएँ

Dr. Rampratap Mishra
Assistant Professor & Head
Department of Sanskrit
D.C.S.K.P.G. College Mau

प्रत्येक वस्तु, तथ्य, सिद्धान्त का अपना एक अतीत होता है। 'रससिद्धान्त' भी इससे पृथक नहीं है। इसका इतिहास उतना ही पुराना है जितनी यह सृष्टि। जगच्चित्र के निर्माता परम पिता परमेश्वर स्वयं आनन्दमय, रसमय हैं। श्रुतिप्रमाण से यह सिद्ध है–

यद्वै तत्सुकृतं रसो वै सः। रस ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति।[1]

अर्थात् वह जो प्रसिद्ध सुकृत (स्वयं रचा हुआ) सो निश्चय रस ही है। इसको प्राप्तकर पुरुष आनन्दित होता है। काव्य के पठन से, संगीत के श्रवण से, नाट्यादि के देखने से हमें जो आनन्दानुभूति होती है, वही तो है रसानन्द, जिसके मूल में रस है। रस–विवेचन भारतीय काव्यशास्त्र का मेरुदण्ड है, जिसमें काव्य का असीम आनन्द सन्निहित है। नेत्र और श्रोत्र के प्रत्यक्षीकृत भावों के फलस्वरूप सहृदय या पाठक को जो मनस्तुष्टि होती है वही 'रस' है।

रस शब्द की व्युत्पत्ति पर यदि हम विचार करें तो–

(रसादिभ्योऽच्) रस आस्वादस्नेहयोः।[2]

रसयतीति रसः। रस्यत इति रसः। रस्यते अनेनेति रसः। रसः.....रसयति, आस्वाद्यते। रस आस्वादने चुरादिरदन्तः। .....रस्यते, आस्वाद्यते अनेन वा। कर्मणि घञ्।[3]

रसो रतिः प्रीतिर्भावो रागो वेगः समाप्तिरिति रतिपर्यायः।[4]

आचार्य भरतमुनि रस को रस–संज्ञा से अभिहित, उसकी रसता या आस्वाद्यता के कारण ही करते हैं– **रस इति कः पदार्थः? अत्रोच्यते। आस्वाद्यत्वात्।**[5] साथ ही रसास्वाद को नाना प्रकार के व्यंजनों से संस्कारित अन्न के आस्वादन के माध्यम से सरलीकृत करते हुए समझाया है–

---

[1]- तैत्तिरीय उपनिषद, ब्रह्मानन्द बल्ली : 7 अनुवाक।

[2]- पाणिनीय धातुपाठ : धातु संख्या 1932।

[3]- तत्रैव।

[4]- कामसूत्र : 2/1/65।

[5]- नाट्यशास्त्र : अध्याय 6 पर अभिनवभारती टीका।

यथा हि नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नाना भावाभिनयव्यञ्जितान् वाङ्गसत्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति।[6]

नाट्यशास्त्र के टीकाकार आचार्य अभिनवगुप्त रस की आस्वाद्यता को परिष्कृत करते हुए कहते हैं कि– **आस्वादनं हि रसनेन्द्रियजज्ञानं प्रसिद्धमिति भावः।**[7]

अन्नग्रहण का आस्वाद एवं रसास्वाद में अन्तर ग्राहक इन्द्रिय का है। यहाँ भोजनास्वाद रसनेन्द्रिय का व्यापार है तथा काव्यास्वाद मानस–व्यापार है–

न रसनव्यापार आस्वादनम्। अपि तु मानस एव।[8]

सर्वथा रसनात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रसः।

तत्र विघ्नापसारका विभावप्रभृतयः। तथा हि लोके सकलविघ्नविनिर्मुक्ता संवित्तिरेव चमत्कारनिर्वेश–रसनास्वादभोग–समापत्ति–लय–विश्रान्त्यादि शब्दैरभिधीयते।[9]

अर्थात् सर्वथा रसनात्मक या आस्वादात्मक एवं निर्विघ्न प्रतीति से ग्राह्य भाव ही रस है। इसमें विघ्नों को दूर करने वाले विभावादि भी हैं। जैसे कि लोक में समस्त विघ्नों से विनिर्मुक्त संवित्ति प्रतीति ही चमत्कार, निर्वेश, रसन, आस्वादन, भोग, समापत्ति, लय, आदि शब्दों से संकेतित होती है या जानी जाती है।

अभिनवगुप्त की शैवाद्वैत परम्परा से इतर शंकराचार्य की अद्वैतपरम्परा के अनुगामी आचार्य विश्वनाथ ने रस को इस प्रकार परिभाषित किया है–

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।

वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः।।

लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।

स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः।। [10]

प्रस्तुत कारिका में **'सत्त्वोद्रेकात्'** इस पद से हेतु का निर्देश किया गया है। रजोगुण व तमोगुण से असंस्पृष्ट अन्तःकरण को सत्त्व कहते हैं– **रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते** और **अखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः, वेद्यान्तरस्पर्शशून्य, ब्रह्मास्वादसहोदरः, लोकोत्तरचमत्कारप्राणः।** इन पदों से

---

[6]- तत्रैव : पृ० 90।

[7]- नाट्यशास्त्र : अध्याय 6 पर अभिनवभारती टीका, पृ० 91।

[8]- तत्रैव : पृ० 96।

[9]- तत्रैव : पृ० 62।

[10]- साहित्यदर्पण : 3/2–3।

रस का स्वरूप बतलाया गया है। **स्वकारवदभिन्नत्वेन**, इस पद के द्वारा रस के आस्वाद का प्रकार और **कैश्चित्प्रमातृभिः,** पद से रसास्वाद किसको होगा? इसको बतलाया गया है।

आचार्य भट्टनायक रस को आस्वादनात्मक आत्मानुभव के रूप में स्वीकार करते हैं–

संवेदनाख्यया व्यङ्ग्यपरसंवित्तिगोचरः।

आस्वादनात्माऽनुभवो रसः काव्यार्थ उच्यते।।[11]

आचार्य भोजराज ने रस को हृदय स्थित अहं का आस्वाद मानते हैं–

साहंकृते हृदि परं स्वदते रसोऽसौ।[12]

वक्रोक्तिवादी आचार्य कुन्तक एवं अनुमितिवादी आचार्य महिमभट्ट भी रस को आत्मास्वादरूप ही मानते हैं–

वाच्यावबोधनिष्पत्तौ पदवाक्यार्थवर्जितम्।

यत्किमप्यर्पयत्यन्तः पानकास्वादवत्सताम्।।[13]

भावसंयोजनाव्यंग्यपरसंवित्तिगोचरः।

आस्वादनात्मानुभवो रसः काव्यार्थ उच्यते।।[14]

भावप्रकाशनकार आचार्य शारदातनय ने मन की प्रसन्नता को उत्पन्न करने वाले आस्वाद को रस–रूप में परिभाषित किया है– **मनसो ह्लादजननः स्वादो रसः स्मृतः।**[15]

रससंख्या :

रसों की संख्या के निर्धारण में आचार्यों की अपनी–अपनी दृष्टि है। इस सन्दर्भ में यदि हम बात करें तो दीर्घकाल तक रस संख्या में आठ ही रहे, क्योंकि रससिद्धान्त का मूल ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' मूलतः आठ ही रसों की स्थापना करता है–

एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना.....।

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहो भयं तथा।

जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः।।[16]

महाकवि कालिदास ने भी इसका समर्थन किया है।

---

[11]- नाट्यशास्त्र : अध्याय 6 पर अभिनवभारती टीका, पृ० 56।

[12]- शृङ्गारप्रकाश : पृ० 481 (डॉ० राघवन)।

[13]- वक्रोक्तिजीवितम् : 1/पृ० 55।

[14]- व्यक्तिविवेक : 1/पृ० 70।

[15]- भावप्रकाशनम् : 2/40।

[16]- नाट्यशास्त्र : 6/17–18।

मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतोष्वष्टरसाश्रयो नियुक्तः।

ललिताभिनयं तमद्य भर्ता मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः।।[17]

वररुचि प्रणीत 'उभयाभिसारिका' में एक अवसर पर '**अष्टौ रसाः**' का उल्लेख प्राप्त होता है।[18] काव्यशास्त्रीय आचार्यों में दण्डी के समय तक केवल अष्टरसों की ही मान्यता रही। आचार्य भामह को भी केवल अष्टरसों का ही ज्ञान था।

भावप्रकाशनकार आचार्य शारदातनय भी अष्टरस के ही समर्थक रहे हैं–

यतोऽष्टधा मनोवृत्तिः सभ्यानां नाट्यकर्मणि।

अष्टावेवानुभूयन्ते तासूक्तास्तै रसाः पृथक्।।[19]

इनकी मान्यता है कि सामाजिकों की आठ प्रकार की मनोवृत्तियाँ हैं, नाट्यकर्म में इन्हीं आठों का अनुभव किया जाता है। कुछ विद्वान नवीं मनोवृत्ति भी मानते हैं। फलतः नाट्य में शान्त रस भी है, ऐसा माना जाता है।[20] 'शम–स्थायिभाव' यथास्थान प्रयुक्त विभावादि के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होकर शान्तरस कहलाता है, ऐसा कुछ लोग मानते हैं, परन्तु 'शम' में विकारों की शून्यता होने से उसकी रसरूप में परिणति नहीं हो सकती। नाटकादि में अभिनय की अशक्यता के कारण भी सामाजिक या प्रेक्षक के मन में शान्तरस उत्पन्न नहीं होता।

इस प्रकार विद्वानों ने शान्तरस को रसरूप में मान्यता तो दी है, परन्तु अभिनेय नहीं माना है अतएव पद्मभू के मत में आठ ही रस हैं।[21]

आनन्दवर्धन स्वतःप्रमाण से शान्तरस की वकालत करते हैं तथा उसके स्थायिभाव के रूप में न ही 'निर्वेद' को स्वीकार करते हैं और न ही 'शम' को। आनन्दवर्धन शान्तरस के स्थायिभाव के रूप में स्वीकार करते हैं 'तृष्णा' या क्षयसुख को जो समस्त इच्छाओं का निषेधरूप है– **शान्तश्च तृष्णाक्षयसुखस्य यः परिपोषतल्लक्षणो रसः प्रतीयत एव।**[22]

आचार्य आनन्दवर्धन ने ही सर्वप्रथम यह संकेत किया कि महान् आर्षकाव्य 'महाभारत' का अंगीरस शान्त ही है– **यथा वा महाभारते... महामुनिना वैराग्यजननतात्पर्यं प्राधान्येन स्वप्रबन्धस्य दर्शयता मोक्षलक्षणः पुरुषार्थः शान्तोरसश्च मुख्यतया विवक्षाविषयत्वेन सूचितः।**[23]

इस प्रकार आचार्य आनन्दवर्धन नौ रसों को मान्यता प्रदान करते हैं।

17- विक्रमोर्वशीयम् : 2/17।

18- चतुर्भाणी, मद्रास, 1992 पृ० 13।

19- भावप्रकाशनम् : 2/61।

20- तत्रैव : 2/62।

21- भावप्रकाशनम् : 2/63–66।

22- ध्वन्यालोक : 3/पृ० 430।

23- तत्रैव : 4/5 की वृत्ति।

शान्तरस का खण्डन करने वाले आचार्य यह मानते हैं कि भरतमुनि इससे अवगत नहीं थे। उनका कहना है कि नाट्यशास्त्र में संगीत, रसों एवं जात्यंशों को तो समन्वित किया गया है, जो कि अनेंक रसों के व्यंजक हैं, परन्तु इस प्रकरण में शान्तरस का उल्लेख नहीं मिलता।[24]

आचार्य अभिनवगुप्त पहले तो शान्तरस का पल्लवन करते हैं, परन्तु उनका आधार भरतमुनि का शान्त रसविषयक विवेचन नहीं अपितु उनका मौन है– **शान्तश्चेति तृष्णानां विषयाभिलाषाणां यः क्षयः सर्वतो निवृत्तिरूपो निर्वेदः तदेव सुखं तस्य स्थायिभूतस्य यः परिपोषो रस्यमानताकृतस्तदेव लक्षणं यस्य स शान्तो रसः।[25]**

आचार्य कुन्तक शान्तरस को स्वीकार करते हैं तथा उसे 'रामायण' का प्रतिपाद्य रस मानते हैं।[26] आचार्य क्षेमेन्द्र भी शान्तरस को मान्यता प्रदान करते हैं[27] तथा आचार्य अभिनवगुप्त व आनन्दवर्धन का अनुकरण करते हुए शान्तरस को 'महाभारत' व 'रामायण' दोनों के पर्यवसित रस के रूप में स्वीकार करते हैं[28] जबकि आचार्य आनन्दवर्धन 'रामायण' के प्रधान रस के रूप में करुण को स्वीकार करते हैं–

रामायणे हि करुणो रसः स्वयमादिकविना सूत्रितः 'शोकः श्लोकत्वमागतः' इत्येवंवादिना।[29] इस सन्दर्भ में आचार्य क्षेमेन्द्र का मानना है कि करुण स्वयमेव शान्त के आत्यन्तिक रससिद्ध होनें की युक्ति है।[30]

'दशरूपक' जो परवर्ती नाट्यग्रन्थों का आदर्श है। उसके प्रणेता व व्याख्याकार धनंजय व धनिक दोनों शान्त का खण्डन करते हुए नाट्य में इसकी असंभावना की पुष्टि करते हैं–

शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य।[31]

इससे यह प्रतीत होता है कि आचार्य धनंजय शान्तरस को केवल नाटक में अस्वीकार करते हैं, परन्तु काव्य में उसे स्वीकार करते हैं। जबकि वास्तविकता यह है कि ये दोनों आचार्य काव्य में भी शान्तरस को मान्यता नहीं देते।[32]

मम्मटाचार्य तो 'काव्यप्रकाश' के मंगलाचरण में ही नवरसों की पुष्टि कर देते हैं–

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।

---

[24]- नाट्यशास्त्र : 29/अभिनवभारती।
[25]- ध्वन्यालोक : 3/पर लोचन।
[26]- वक्रोक्तिजीवितम् : डे–संस्करण 1928।
[27]- औचित्यविचारचर्चा : व्रतौचित्य।
[28]- 'भारतमंजरी' के अन्त में श्लोक संख्या 3।
[29]- ध्वन्यालोक : 4/5 की वृत्ति।
[30]- 'रामायणमंजरी' के अन्त में श्लोक संख्या 1।
[31]- दशरूपक : 4/35।
[32]- दशरूपक : 4/35–36 पर अवलोक।

नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कर्वेजयति।।[33]

यद्यपि यह आचार्य भरतमुनि का अनुसरण करते हुए अष्टरसों पर ही बात करते हैं– **शृङ्गार हास्य करुण रौद्र वीर भयानकाः।**

बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः।।[34]

परन्तु बाद में सम्यक विचार कर शान्तरस को भी मान्यता प्रदान करते हैं–

निर्वेद स्थायिभावो शान्तोऽपि नवमो रसः।[35]

आचार्य शारदातनय ब्रह्मा के मत में अष्ट नाट्यरसों की ही पृष्टि करते हैं–

तस्मान्नाट्यरसा अष्टाविति पद्मभुवो मतम्।[36]

शान्तरस के सन्दर्भ में उनका कथन है कि कुछ विद्वान नवीं मनोवृत्ति मानते हैं, फलतः नाट्य में शान्तरस भी है, ऐसा माना जाता है–

केचिन्नवात्मिकामाहुर्मनोवृत्तिं विचक्षणाः।

ततश्शान्तो रसो नाट्येऽप्यस्तीति प्रतिजानते।।[37]

नाट्यशास्त्र छठें अध्याय में[38] **'अष्टौ नाट्यरसाः स्मृताः'** तथा **'एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना'** को लेकर कुछ विद्वान 'नाट्य' पर बल देते हुए नाट्यरसों की संख्या आठ मानते हैं तथा काव्य में शान्तरस को भी स्वीकार करते हैं।

आचार्य शिङ्गभूपाल नाट्य में केवल आठ ही रसों को मान्यता प्रदान करते हैं–

अष्टधा स च शृङ्गारहास्यवीराद्भुताऽपि।

रौद्रः करुणबीभत्सौ भयानक इतीरितः।।[39]

तथा शान्त को रस मानने के लिए भोजराज की आलोचना भी करते हैं।[40]

नाट्य पर विचार करने वाले विद्वान आचार्य केवल नाट्य में ही शान्तरस का विरोध करते हैं, क्योंकि नाटक में अनुभावों के माध्यम से रसचर्वणा की अपेक्षा की जाती है, जबकि शान्तरस में अभिनय की संभावना ही नहीं रहती। अतः उनका मानना है कि शान्तरस में समस्त क्रियाओं का अभाव होता है।

---

[33]- काव्यप्रकाश : 1/1।
[34]- तत्रैव : 4/6।
[35]- तत्रैव : 4/12।
[36]- भावप्रकाशनम् : 2/66।
[37]- तत्रैव : 2/61–67।
[38]- नाट्यशास्त्र : 6/16–17।
[39]- रसार्णवसुधाकर : 2/166।
[40]- तत्रैव : 2/157 एवं उसकी वृत्ति।

शान्तरस की अभिनेयता न होने के कारण यद्यपि नाट्य में शान्तरस का प्रवेश नहीं है फिर भी इसकी काव्यविषयता पर प्रश्नचिन्ह नहीं लगाया जा सकता। श्रव्यकाव्यों में शान्तरस का वर्णन किया जा सकता है, क्योंकि जिसका अभिनय नहीं किया जा सकता उसका वर्णन तो किया जा सकता है–

ननु शान्तरसस्य अनभिनेयत्वाद् यद्यपि नाट्येऽनुप्रवेशो नास्ति तथापि सूक्ष्मातीतादिवस्तुनां सर्वेषामपि शब्दप्रतिपाद्यतया विद्यमानत्वात् काव्यविषयत्वं न निवार्यते।[41]

इस बात को आचार्य धनिक स्वीकार ही नहीं करते हैं। उनका मानना है कि 'शम' को किसी भी परिस्थिति में काव्य का विषय नहीं बनाया जा सकता–

शमप्रकर्षोऽनिर्वाच्यो मुदितादेस्तदात्मता।[42]

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।

रसस्तु शान्तः कथितो मुनिन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानाः।।

इत्येवंलक्षणः तदा तस्य मोक्षावस्थायामेव आत्मस्वरूपापत्तिलक्षणायां प्रादुर्भावात् तस्य च स्वरूपेण अनिर्वाच्यता। तथा हि श्रुतिरपि नेति–नेति इति अन्यापोहरूपेणाह। न च तथाभूतस्य शान्तरसस्य सहृदयाः स्वादयितारः सन्ति, अथापि तदुपायभूतो मुदितामैत्रीकरुणोपेक्षादिलक्षणस्तस्य च विकासविस्तारविक्षेपरूपतैवेति तदुक्तैव शान्तरसास्वादो निरुपितः।[43]

अर्थात् यदि 'शम' नामक स्थायिभाव का प्रकर्ष ही शान्तरस है तो वह अनिर्वचनीय होगा, क्योंकि मोक्षावस्था में होनेवाले शान्तरस का वर्णन नहीं किया जा सकता। चित्त की जिस अवस्था में न दुःख है, न सुख है, न चिन्ता है, न राग–द्वेष है और न ही कोई इच्छा है, जहाँ समस्त भावों में केवल शमभाव की ही प्रधानता है। आत्मस्वरूप की प्राप्ति ही जिसका लक्षण है, ज्ञानी मुनियों ने उसी को शान्तरस कहा है। ऐसी मोक्षावस्था में शान्तरस का प्रादुर्भाव होने के कारण उसका वर्णन कैसे संभव होगा? श्रुतियाँ भी जिसकी अनिर्वचनीयता का प्रतिपादन नेति–नेति रूप तथा अन्य बौद्धमतावलम्बी (**'अपोह'– अतद्व्यावृत्ति** या **तद्भिन्न–भिन्नत्व**) रूप में करते हैं। जिसके आस्वादन करनेवाले सहृदय भी नहीं हैं। यदि शान्तरस को प्रकट करने वाले उपाय मुदितादि (मुदिता, मैत्री, करुणा, उपेक्षा) हैं तो शान्तरस विकासादि (विकास, विस्तार, क्षोभ, एवं विक्षेप) स्वरूप वाला ही होगा, क्योंकि मुदितादि, विकासादि स्वरूप वाले हैं। दूसरे शब्दों में मुदितादि, विकासादि तादात्म्यरूप हैं। इस प्रकार मुदितादि, विकासादि में अन्तर्भाव हो जाने के कारण शान्तरस की पृथक सत्ता सिद्ध नहीं होती।

---

[41]- दशरूपक : 4/44 पर अवलोक।

[42]- तत्रैव : 4/45।

[43]- तत्रैव : 4/45 पर अवलोक।

इस सन्दर्भ में आचार्य विश्वनाथ धनिक के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए उनका खण्डन करते हैं– **न यत्र दुःखं.....। इत्येवंरूपस्य शान्तस्य मोक्षावास्थायाम् एवम् आत्मस्वरूपोपत्तिलक्षणायां प्रादुर्भावात्तत्र संचार्यादीनाम् अभावात्कथं रसत्वम् इत्युच्यते?**

युक्तवियुक्तदशायामवस्थितो यः शमः स एव यतः।

रसतामेति तदस्मिन् सञ्चार्यादेः स्थितिश्च न विरुद्धा।।

यश्चास्मिन् सुखाभावोऽप्युक्तः तस्य वैषयिकसुखपरत्वात् न विरोधः।[44]

उनका कहना है कि आचार्य धनिक के मत में परमात्मस्वरूप मुक्तिदशा में ही यथार्थ शान्तरस हो सकता है। परन्तु मुक्तावस्था में तो संचारी भावों का अभाव होता है, फिर काव्यादि में विभावानुभावव्यभिचारि के द्वारा शान्तरस की निष्पत्ति कैसे हो सकती है?

समाधान स्वरूप वे कहते हैं कि युक्त–वियुक्त दशा में अवस्थित 'शम' ही शान्तरस के रूप में परिणत होता है, मुक्तावस्था का 'शम' नहीं, क्योंकि युक्त–वियुक्त दशा में अवस्थित 'शम' में विभावादि की स्थिति विरुद्ध नहीं रहती अर्थात् उस युक्त–वियुक्त अवस्था में विभावादि उपस्थित रहते हैं। यह युक्त, वियुक्त एवं युक्त–वियुक्त अवस्था क्या है? यह प्रश्न प्रासंगिक है।

युक्त– रूपादि विषयों से मन को निवृत्त कर किसी ध्यान में एकाग्र हुए योगी को युक्त कहते हैं।

वियुक्त– जिसे अणिमादि अष्टसिद्धियाँ योगबल से प्राप्त हैं तथा समाधि में अवस्थित होकर सभी जिज्ञासित वस्तुओं का ज्ञान जिसके अन्तःकरण में भासित होने लगता है, उसे कहते हैं वियुक्त।

युक्त–वियुक्त– जिसको यहाँ तक सिद्धि प्राप्त है कि वह चक्षुरादि बाह्य इन्द्रियगण, महत्त्व एवं उद्भूतरूपादि प्रत्यक्षज्ञान की अपेक्षा न करके सभी अतीन्द्रिय विषयों का साक्षात्कार कर सकता है, युक्त–वियुक्त कहलाता है।

शान्तदशा में सुखाभाव जो कहा गया है, उसका तात्पर्य यह है कि उस समय विषयजन्य सुख नहीं होता, यह नहीं कि उस समय किसी प्रकार का सुख होता ही नहीं। इस संसार में जो कामादि विषयजन्य सुख एवं स्वर्गीय महासुख हैं, वे सब मिलाकर भी शान्तरस से उत्पन्न आह्लाद के सोलहवें अंश के बराबर भी नहीं हो सकते। इससे यह स्पष्ट है कि शमावस्था में सुख अवश्य होता है, अतः आपका 'शम' के सन्दर्भ में–

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता....। कहना समीचीन नहीं है।

इस सन्दर्भ में प्रोफ़ेसर अभिराजराजेन्द्र मिश्र का अपना पृथक मन्तव्य है–

[44]- साहित्यदर्पण : 3/250 व उसकी वृत्ति।

उनके शब्दों में शान्तरस को काव्य में स्वीकार तथा नाट्य में अस्वीकार करना एक ऐसा निकृष्ट समझौता है जो इसकी स्वाभाविक रसप्रकृति को तो स्वीकार करता है और रस के रूप में उसके पारम्परिक प्रचलन का निषेध करता है। जबकि काव्य अपने मूल रूप में नाट्य मात्र है। इस तथ्य को आचार्य अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में रेखांकित भी किया है–

यदि वा नाट्यमेव रसाः। रससमुदायो हि नाट्यम्। न नाट्य एव च रसाः। काव्येऽपि नाट्यायमान एव रसाः। काव्यार्थविषये हि प्रत्यक्षकल्पसंवेदनोदये रसोदय इत्युपाध्यायाः।[45]

इस प्रकार काव्य की कथावस्तु के रूप में यदि शान्त को विकसित कर पाना संभव है तो नाटक के मुख्य उद्देश्य के रूप में उसका निबन्धन क्यों नहीं?

रससिद्धान्त के आदि आचार्य भरतमुनि ने रसोत्पत्ति के हेतु चार रसों की चर्चा की है। उनका मानना है कि रसोत्पत्ति के हेतु चार रस हैं– शृङ्गार, रौद्र, वीर और बीभत्स। इनमें शृङ्गार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत एवं बीभत्स से भयानक रस की उत्पत्ति होती है– **तेषामोत्पत्तिहेतवद्वचत्वारो रसाः। तद्यथा शृङ्गारो रौद्रो वीरो बीभत्स इति। अत्र–**

शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।

वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः।।[46]

यहीं से रससिद्धान्त में रससंख्या को लेकर चार मौलिक रसों की परिकल्पना का प्रादुर्भाव होता है। यद्यपि इस अवधारणा का पल्लवन परवर्ती काव्यनियामक आचार्यों के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में नहीं प्राप्त होता है, तथापि आचार्य धनंजय जो की 'नाट्यशास्त्र' के प्रतिनिधि ग्रन्थ 'दशरूपक' के रचनाकार हैं, वह इन चार मौलिक रसों की संकल्पना पर अपना मन्तव्य रखते हैं।

आचार्य धनंजय नौ मौलिक मनःसंवेगो अथवा स्थायिभावों के स्थान पर चार स्थायिभाव या चार रस मानने पर विचार करते हैं। उनका मानना है कि शेष रसों की उत्पत्ति इन चार रसों से ही मानी जा सकती है। रसानुभूति काल में चित्त की विकास, विस्तार, विक्षोभ तथा विक्षेप रूपी चार प्रकार की ही अवस्थाएँ होती हैं। अतएव चार ही रस मानने चाहिए–

स्वादः काव्यार्थसम्भेदादात्मानन्दसमुद्भवः।

विकासविस्तारक्षोभविक्षेपैः स चतुर्विधः।।

शृङ्गारवीरबीभत्सरौद्रेषु मनसः क्रमात्।

हास्याद्भुतभयोत्कर्षकरुणानां त एव हि।।

अतस्तज्जन्यता तेषामत एवावधारणम्।[47]

---

[45]- नाट्यशास्त्र : अध्याय 6 पर अभिनवभारती टीका।

[46]- दशरूपक : 6/40।

इनके मत में काव्य के अर्थ का सम्भेद अर्थात् तादात्म्य या आत्मात् हो जाने पर जो आत्मानन्द का अनुभव होता है, वही रसास्वाद है।

आचार्य धनिक रसास्वाद को और अधिक स्पष्ट करते हैं–

काव्यार्थेन विभावादिसंसृष्टस्थाय्यात्मकेन भावकचेतसः। सम्भेदे अन्योन्यसंवलने प्रत्यस्तमितस्वपरविभागे सति प्रबलतरस्वानन्दोद्भूतिः रसास्वादः।[48]

यहाँ काव्यार्थ का अभिप्राय विभाव, अनुभाव और संचारिभाव से संसृष्ट स्थायिभाव से है। यदि भरत–रससूत्र[49] के अनुसार इसकी मीमांसा की जाय तो धनिक ने रससूत्र के 'संयोग' पद का अर्थ 'संसृष्ट' किया है तथा निष्पत्ति पद का अर्थ स्वकीय आत्मानन्द की अनुभूति। इस प्रकार यदि हम विचार करें तो भरत–रससूत्र के 'संयोग' पद का जो व्युत्पत्तिमूलक अर्थ (सम्यक् योग) है, वही 'संसृष्टि' (सम्यक् सृष्टि) पद का अर्थ भी है।

आचार्य धनिक के मत को यदि और स्पष्ट किया जाय तो हमें ज्ञात होगा कि अभिधाशक्ति के द्वारा विभावादि पदार्थों की उपस्थिति होती है तथा तात्पर्या शक्ति जिसे धनिक ने भावकत्वरूप में स्वीकार किया है। अतः भावकत्व व्यापार के द्वारा भावना करने से पदार्थों के सामान्यरूप से स्थायिभाव का संयोग हो जाता है। इसके बाद ही रसिक के चित्त की सम्भेदा अवस्था आती है। काव्यार्थ के रसिक या सहृदय सम्भेद से तात्पर्य सहृदय के चित्त का काव्य के अर्थों के अनुकूल हो जाने से है। जब काव्यार्थों से सहृदय के चित्त का तादात्म्य हो जाता है, उस स्थिति में सहृदय के चित्त में स्व एवं पर का भेद समाप्त हो जाता है। वस्तुतः रसास्वाद में यही स्थिति साधारणीकरण कहलाती है, जिसे आचार्य विश्वनाथ एवं आचार्य अभिनवगुप्त ने इस प्रकार परिभाषित किया है।

परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च।

तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते।।[50]

ममैवेते, शत्रोरेवैते, तटस्थस्यैवैते; न ममैवेते, न शत्रोरेवैते, न तटस्थस्यैवैते, इति सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्तः।[51]

भावकत्व व्यापार से स्थायिभाव की संसृष्टि होते ही साधारणीकरण की स्थिति हो जाती है। इसके पश्चात् प्रबलतर आत्मानन्द की अनुभूति होती है। धनिक ने इस आत्मानुभूति को 'प्रबलतर' बतलाया है। यह अनुभूति सांसारिक विषयों से प्राप्त होने वाले आनन्द से विलक्षण होती है, किन्तु

47- तत्रैव : 4/43–44।

48- तत्रैव : 4/43 पर अवलोक।

49- विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।

50- साहित्यदर्पण : 3/11।

51- काव्यप्रकाश : चतुर्थ उल्लास।

ब्रह्मानन्द न होने से उससे कुछ न्यून होती है। इसीलिए रसानुभूति को ब्रह्मास्वादसहोदर कहा गया है।[52]

इस प्रकार धनिक के मत में विभावित स्थायिभाव का आस्वाद ही रस है– **स्थायीभावो विभावितः भावरूपतामानीतः स्वदते रस।**[53] इससे यह सिद्ध होता है कि रस अस्वाद से भिन्न कोई तत्व नहीं है। आचार्य धनंजय ने भी स्वाद्यत्व के कारण ही स्वाद को रस माना है– **रसः स एव स्वाद्यत्वाद्रसिकस्यैव वर्तनात्।**[54] यदि कर्म–कर्तृ–प्रक्रिया के द्वारा **रसः आस्वाद्यते** पर विचार किया जाय, तो भी यही बात स्पष्ट होती है कि, रस स्वयं ही आस्वाद का विषय बनता है। यह स्वादरूप रस स्वप्रकाशानन्दस्वरूप चैतन्य से भिन्न नहीं है, अतएव आचार्य धनिक इसे स्वात्मानन्द की अनुभूति, रस या आस्वाद कहते हैं।

उक्त रसास्वाद सभी रसों में समान होने पर भी प्रत्येक रस के नियत अपने–अपने विभावादि कारण से जन्य सम्भेदता या तन्मयता के कारण चित्त 'विकास, विस्तार, क्षोभ, विक्षेपरूप' चार अवस्थाओं में परिणत हो जाता है।

इस प्रकार शृंगार में चित्त का विकास, वीर में विस्तार, बीभत्स में क्षोभ एवं रौद्र में विक्षेप होता है। इन रसों से इतर जो अन्य चार रस हास्य, अद्भुत्, भयानक एवं करुण हैं, जिनकी पुष्टि अपने–अपने विभावादि की प्राप्ति से होती है, उनमें भी वे ही चित्त की विकासादि चार अवस्थाएँ होती हैं। अतएव भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र[55] में जो शृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत् एवं बीभत्स से भयानक रस के उत्पन्न होने की चर्चा की है, वह सम्भेदता या तादात्म्यता के भाव से ही की है, कार्य–कारण भाव से नहीं।

भरतमुनि ने जो शृंगार की अनुकृति को हास्य माना है–

शृंगारानुकृतिर्या तु स हास्य इति कीर्तितः..... ।[56]

यहाँ शृंगारादि एवं हास्यादि में विकासादिरूप चित्त की अवस्थाओं की सम्भेदता, तादात्म्यता या एकरूपता का ही प्रतिपादन करते हैं।

इसी हेतु '**अष्टौ रसाः**' के सिद्धान्त का अवधारण या निर्धारण किया जाता है, क्योंकि इन चारो विकासादि के अतिरिक्त चित्त की कोई ऐसी अवस्था नहीं होती जिसमें चित्त की तन्मयता हो सके।

52- साहित्यदर्पण : 3/2।

53- दशरूपक : 4/47 पर अवलोक।

54- तत्रैव : 4/38।

55- नाट्यशास्त्र : 6/40।

56- तत्रैव : 6/40।

सातवीं शदी पूर्वार्द्ध के नाट्यकार भवभूति तो एकमात्र करुणरस की ही रस रूप में स्थापना करते हैं, उनके मत में करुणरस ही कारण भेद से भिन्न–भिन्न होकर पृथक–पृथक परिणामों को प्राप्त करता हुआ विभिन्न रसों में परिणत होता है–

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक्पृथगिव श्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान्विकारा
नम्भो यथा, सलिलमेव हि तत्समस्तम्।।[57]

Cite this Article

Dr. Rampratap Mishra, "रससिद्धान्त में रससंख्या निर्धारण सम्बन्धित मान्यताएँ", Shodhshauryam, International Scientific Refereed Research Journal (SHISRRJ), ISSN : 2581-6306, Volume 3 Issue 2, pp. 18-29, March-April 2020.

URL : http://shisrrj.com/SHISRRJ20323

◆◆◆◆◆

[57]- उत्तररामचरितम् 3/47।